01 स्कूलों में सामाजिक विज्ञान

आन्द्रे बैटील

आज सामाजिक विज्ञान विषय देश भर के स्कूलों में किसी न किसी रूप में पढ़ाए जा रहे हैं। पहले आम तौर पर ऐसी स्थिति नहीं थी। आजादी के पहले, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और यहाँ तक कि अर्थशास्त्र की शिक्षा भी मुख्य रूप से विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों तक सीमित थी। आजादी के बाद सामाजिक विज्ञान के विषयों की शिक्षा में निरन्तर विस्तार हुआ तथा जल्दी ही इन्हें स्कूलों में पढ़ाए जाने की माँग बढ़ने लगी।

सामाजिक विज्ञान का वर्णन कभी–कभी नीति विज्ञान के रूप में किया जाता है, हालाँकि नीति–निर्धारण में समाजशास्त्र और राजनैतिक विज्ञान जैसे विषयों का योगदान परोक्ष व सीमित ही रहता है। वैसे भी, स्कूली विद्यार्थियों को नीति–निर्माता या फिर नीति–निर्माण में परामर्शदाता बनाने का लक्ष्य रखना अपने आप में बहुत ही अव्यावहारिक बात होगी। पर अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज किस तरह काम करते हैं, इसके बारे में सामान्य जानकारी होने से विद्यार्थियों को उनकी आगे की जिन्दगी में यह समझने में मदद मिलेगी कि सार्वजनिक जीवन में नीतियों की क्या भूमिका होती है। यह उन्हें इस बारे में एक शिक्षित दृष्टिकोण बनाने का आधार प्रदान कर सकता है कि कुछ खास नीतियाँ ही क्यों अपनाई जाती हैं और अन्य क्यों नहीं। साथ ही अपनाई जाने वाली नीतियों में से कुछ ही क्यों सफल होती हैं और बाकी क्यों नहीं।

मेरा दृष्टिकोण यह है कि सामाजिक विज्ञान का ज्यादा महत्वपूर्ण योगदान नीति–निर्धारण के लिए प्रशिक्षित करने में नहीं है बल्कि शिक्षित व समझदार नागरिक तैयार करने में है। लोकतंत्र के अच्छे संचालन के लिए शिक्षित नागरिक वर्ग का होना अपरिहार्य है। कोई व्यक्ति अच्छे नागरिक होने के गुण अनायास हवा में से नहीं पकड़ता, उन्हें हासिल करने और बढ़ावा देने के लिए एक खास प्रकार की शिक्षा की जरूरत होती है। एक अच्छा नागरिक होने के लिए सिर्फ भौतिक व जैविक क्रियाकलापों का जानकार होना ही काफी नहीं होता, अच्छे नागरिक को उस सामाजिक संसार के बारे में भी समझ होना जरूरी है जिसका वह हिस्सा है।

लेकिन समाजशास्त्र में न केवल विषय की सीमाओं पर विद्वानों के विचारों में भिन्नता है, बल्कि ऐसा एकदम उसकी बुनियादों में भी है। और यही वह वजह है जिसके कारण स्कूली शिक्षकों के लिए यह विषय पढ़ाना खास तौर पर मुश्किल हो जाता है।

सामाजिक विज्ञान की शिक्षा दिए जाने के महत्व को इंगित करने के बाद मुझे स्कूली स्तर पर सामाजिक विज्ञान को पढ़ाने में आने वाली कठिनाई पर भी थोड़ी बात करना होगी। स्कूली स्तर पर समाजशास्त्र या राजनीति विज्ञान पढ़ाना, गणित या भौतिकी पढ़ाने से कहीं ज्यादा कठिन होता है। मैं यह बात जितनी जोर से हो सके कहना चाहूँगा और फिर संक्षेप में यह समझाने की कोशिश करूँगा कि क्यों मैं इसे सही मानता हूँ। आगे की चर्चा में, मैं मुख्यतः समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान पर ध्यान केन्द्रित करूँगा, पर मैं जो कहूँगा वह एक व्यापक ढंग से सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत आने वाले ज्यादातर विषयों पर भी लागू होता है।

समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान में अगर अधिकांश नहीं, तो भी अनेक ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनके बारे में कोई तय सम्मति नहीं है। इस वजह से उन शिक्षकों के सामने खड़ी होने वाली शैक्षणिक समस्या, जिन्हें चौदह, पन्द्रह या सोलह वर्ष की उम्र वाले बच्चों को ये विषय पढ़ाना पढ़ते हैं, भौतिकी या रसायनशास्त्र पढ़ाने वाले शिक्षकों को आने वाली समस्याओं की तुलना में काफी अलग हो जाती है। और इस तथ्य पर, स्कूलों के लिए नीति–निर्धारण प्रक्रिया के शीर्ष पर मौजूद लोगों द्वारा पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं दिया जाता।

इस समस्या की प्रकृति को मैं जरा और खुलकर समझाऊँ। विज्ञान के विषयों से सम्बद्ध मेरे साथी, खासतौर पर भौतिकशास्त्री, मुझसे कहते हैं कि मैं यह कहने में बहुत ज्यादा अतिशयोक्ति करता हूँ कि उनके अध्ययन और शोध के क्षेत्रों में काफी हद तक सम्मति है। वे ध्यान दिलाते हैं कि भौतिकी की वर्तमान सीमाओं पर आम सम्मति न के बराबर है। और वाकई में ऐसा है भी, तथा ज्ञान के किसी भी क्षेत्र की सीमाओं पर ऐसा होना अनिवार्य है। लेकिन समाजशास्त्र में न केवल विषय की सीमाओं पर विद्वानों के विचारों में भिन्नता है, बल्कि ऐसा एकदम उसकी बुनियादों में भी है। और यही वह वजह है जिसके कारण स्कूली शिक्षकों के लिए यह विषय पढ़ाना खास तौर पर मुश्किल हो जाता है।

मेरा सौभाग्य था कि मैं स्नातकोत्तर अध्ययन और शोध के एक प्रमुख केन्द्र में समाजशास्त्र का शिक्षक रहा हूँ। नए विद्यार्थियों के सहज हो चुकने के बाद, मैं बिना किसी शंका के उनसे कह पाता था कि हमारे विषय में उत्तर से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न होता है। उच्चतर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए मैंने इस तरह की परीक्षाएँ कराने का

रिवाज विकसित कर लिया था जहाँ मैं प्रत्येक विद्यार्थी से स्वयं का प्रश्न बनाने व उसका उत्तर लिखने को कहता था, और उन्हें यह बता देता था कि उनका मूल्यांकन प्रश्न तथा उत्तर, दोनों के आधार पर किया जाएगा। पर विद्यार्थियों ने जल्दी ही मेरे इरादों को भांप लिया, और वे विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के पिछले प्रश्नपत्रों से प्रश्न, और उन प्रश्नों के उत्तर पहले से तैयार करके आने लगे। भारतीय विद्यार्थी किसी भी परीक्षा व्यवस्था के जाल और फन्दों से पार पाने में उस्ताद होते हैं।

स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को पढ़ाने में मुझे लगा कि कक्षा को यह बताना मेरी जिम्मेदारी है कि अक्सर किसी खास प्रश्न के लिए कोई एक सही उत्तर नहीं होता। मैं पक्के तौर पर यह नहीं कह सकता कि उस स्तर पर भी मैं अपने सभी विद्यार्थियों को इसका विश्वास दिला पाता था या नहीं। परन्तु, पन्द्रह या सोलह की उम्र में विद्यार्थी यह जानना चाहता है कि किसी सवाल का सही उत्तर क्या है ताकि वह परीक्षाओं में अच्छा कर सके और जीवन में आगे बढ़ सके। भौतिकी का शिक्षक या रसायनशास्त्र का शिक्षक अपनी निष्ठा से समझौता किए बगैर समाजशास्त्र या राजनीति विज्ञान के शिक्षक की तुलना में कहीं ज्यादा आसानी से अपने विद्यार्थी को सन्तुष्ट कर सकता है।

विद्यार्थी और शिक्षक, दोनों के ही सामने आने वाली परीक्षा प्रणाली की बाध्यताएँ दूर करने की मन में इच्छा भर होने से उन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। ये बाध्यताएँ समाजशास्त्र जैसे विषय के शिक्षण में गम्भीर विकृतियाँ पैदा कर सकती हैं। विद्यार्थी और शिक्षक, दोनों ही खुद को इस परीक्षा प्रणाली का शिकार मानते हैं। वस्तुतः, उनका बहुत थोड़ा ही नियंत्रण इस तंत्र पर है जिसे समय–समय पर सुधारने की कवायदें ऐसे तरीकों से की जाती हैं जो उनमें से अधिकांश को मनमाने, सनक भरे और अबूझ लगते हैं।

परीक्षाओं को इतने बड़े स्तर, जिससे लगता है कि हम बच नहीं सकते, पर आयोजित करने की मजबूरियाँ न केवल परीक्षा प्रश्नों व उनके अपेक्षित उत्तरों के मानकीकरण, बल्कि, शिक्षण और पाठ्यपुस्तकों, जो शिक्षण का आधार होती हैं, के लेखन के मानकीकरण के लिये भी अनवरत दबाव पैदा करती हैं। कुछ विषयों के लिए मानकीकरण अन्य विषयों की तुलना में ज्यादा सफल साबित होता है। सामाजिक विज्ञानों के शिक्षक व परीक्षक प्राप्तांकों में निरन्तर बढ़ोत्तरी होते जाने के चलन में, जो कि परीक्षा प्रणाली का एक आम लक्षण बन चुका है, पीछे नहीं छूटना चाहते। और इस वजह से सामाजिक विज्ञान में भी परीक्षाओं व शिक्षण का तरीका अपरिहार्य रूप से उस नमूने का अनुसरण करने लगता है जिसे सबसे पहले प्राकृतिक विज्ञानों में लागू किया गया था, और जो वहाँ ठीक–ठाक काम करता हुआ प्रतीत होता है। इससे वे विरोधाभास और अनिश्चितताएँ दूर हो जाती हैं जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन के केन्द्र में मौजूद रहती हैं।

स्कूली बच्चों को दी जाने वाली सामाजिक विज्ञान की शिक्षा एक अन्य कारण से जटिल बन जाती है जिसे इन विषयों में मौजूद मूल्यों की समस्या कहा जा सकता है। मूल्यों पर आधारित निर्णयों को वास्तविकता पर आधारित निर्णयों से अलग करना–या कैसा होना चाहिए–वाले सवालों को–कैसा है–वाले सवालों से अलग करना – प्राकृतिक विज्ञानों के समक्ष उतनी बड़ी चुनौती खड़ी नहीं करता जितनी कि सामाजिक विज्ञान के समक्ष करता है।

सामाजिक विज्ञान में जटिल, अव्यवस्थित और तरल तथ्यों का अध्ययन शामिल रहता है। किसी भी विज्ञान के लिए जरूरी होता है कि तथ्य जैसे हैं, उन्हें सम्मानपूर्वक वैसे ही स्वीकार करके उनके साथ काम किया जाए, चाहे वे तथ्य प्रकृति से सम्बन्धित हों या समाज से। प्राकृतिक विज्ञानों में तथ्यों के प्रेक्षण, व्याख्या और विश्लेषण को व्यावहारिक बुद्धि और जन भावनाओं के दबावों से अलग रखना अपेक्षाकृत आसान होता है। पर जब हम समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था पर काम करते हैं तो मामला इतना सरल नहीं रह जाता। हमारी व्यक्तिगत पसन्द, हमारे दृष्टिकोणों और हमारे द्वारा किए जाने वाले तथ्यों के उन निरूपणों में प्रवेश कर जाती हैं जिनके साथ हमारा काम जुड़ा होता है। सामाजिक विज्ञान ने तथ्यों के साथ वस्तुनिष्ठ और व्यवस्थित ढंग से निपटने के अपने खुद के तरीके विकसित कर लिए हैं। ये तरीके प्राकृतिक विज्ञानों में इस्तेमाल किए जाने वाले तरीकों से भिन्न हैं। पर इसका यह मतलब नहीं है, कि प्रासंगिक तथ्यों के प्रेक्षण, व्याख्या और विश्लेषण के बजाय अपनी खुद की व्यावहारिक बुद्धि या खुद की व्यक्तिगत पसन्द को इस्तेमाल करने के मामले में समाजविज्ञानी, प्राकृतिकविज्ञानी की तुलना में किसी भी तरह से ज्यादा स्वतंत्र है, चाहे बात शिक्षण की हो या शोध की।

शिक्षित भारतीयों में उपदेश देने की एक प्रबल आन्तरिक प्रेरणा काम करती है और अपने अनुभव से मैं यह कह सकता हूँ कि यह प्रेरणा खासतौर पर शिक्षकों में ज्यादा गहरी होती है। परन्तु उपदेश देना, किसी भी तरह से विज्ञान, चाहे प्राकृतिक विज्ञान हो या सामाजिक, की पद्धतियों के अनुसार व्याख्या और विश्लेषण करने के ढंग की जगह नहीं ले सकता। यहाँ पर, विज्ञान के इन दो प्रकारों के बीच अन्तर है। भौतिकी का शिक्षक इलैक्ट्रॉन और प्रोटॉन पढ़ाते समय या रसायनशास्त्र का शिक्षक अम्लों और क्षारों के बारे में पढ़ाते समय शायद ही कभी उपदेश देने की अपनी प्रेरणा में बह सकता हो। जबकि दूसरी तरफ, सामाजिक विज्ञानों के शिक्षकों को अक्सर यह लगता है कि परिवार, नौकरशाही या खुले बाजार के बारे में पढ़ाते समय उन्हें उपदेश देने की स्वतंत्रता होती है। परिणामस्वरूप, अक्सर उनमें अपनी पसन्दों और पूर्वाग्रहों को एक न्यायसंगत

समाज के मूल्यों के रूप में पेश करने की प्रवृत्ति होती है। इसके चलते कुछ विद्यार्थियों को चीजें अस्पष्ट ही रह जाती हैं जबकि कुछ दुराग्रही हो जाते हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि सामाजिक विज्ञान के शिक्षकों के ऊपर अपने शिष्यों के भीतर सही मूल्यों के बीज बोने और उनका पोषण करने की विशेष जिम्मेदारी है। हालाँकि, यह स्पष्ट नहीं है कि उन्हें यह करना कैसे है, क्या उन्हें इसे सामाजिक तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण से अलग रखकर करना चाहिए या फिर उसे इसी प्रक्रिया का एक अभिन्न हिस्सा मानना चाहिए। एक खास तरह के नैतिक मूल्यों को समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था की व्याख्या और विश्लेषण में शामिल कर लेना बेहद मुश्किल कार्य है जिसकी छिपी हुई कठिनाइयों को हल्के ढंग से नहीं लेना चाहिए। मैंने पहले सामाजिक विज्ञान में पद्धतियों और सिद्धान्तों से सम्बन्धित मसलों में मतभेद होने का जिक्र किया था। किन बातों को सर्वश्रेष्ठ मूल्य माना जाना चाहिए, इस सवाल पर यह मतभेद चरम पर पहुँच सकता है।

> *सामाजिक विज्ञान में भी परीक्षाओं व शिक्षण का तरीका अपरिहार्य रूप से उस नमूने का अनुसरण करने लगता है जिसे सबसे पहले प्राकृतिक विज्ञानों में लागू किया गया था, और जो वहाँ ठीक–ठाक काम करता हुआ प्रतीत होता है। इससे वे विरोधाभास और अनिश्चितताएँ दूर हो जाती हैं जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन के केन्द्र में मौजूद रहती हैं।*

निसन्देह, भारत के संविधान में कुछ निश्चित बुनियादी मूल्यों को शामिल किया गया है। शिक्षकों द्वारा इन मूल्यों की प्रकृति और उनके महत्व को सभी विद्यार्थियों को समझाया जाना चाहिए और उन्हें प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे इन मूल्यों को अपने जीवन में चरितार्थ करें। पर संविधान में इन बुनियादी मूल्यों को बेहद वृहद और व्यापक शब्दावली में निर्धारित किया गया है। जब हम ब्यौरों तथा वर्णनों में पहुँचते हैं, असली मतभेद तब उभरकर सामने आना शुरू होते हैं। जैसा कि कहा जाता है, शैतान बारीकियों के विस्तार में ही छिपा रहता है।

क्या हमें देश भर में सभी स्कूली विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए संविधान के ढाँचे के अन्तर्गत मूल्यों के एक अकेले वर्ग को विस्तार से समझाने हेतु परिश्रम करना चाहिए; मैं इस बारे में बिलकुल निश्चिन्त नहीं हूँ कि हम उदारवादी लोकतंत्र के बुनियादी आदर्श – अर्थात मूल्यों की विविधता, जिसमें अच्छे समाज की विविध अवधारणाएँ शामिल हैं, के लिए सहिष्णु वातावरण सुनिश्चित करना – का उल्लंघन किए बगैर इस दिशा में कितनी दूर जा सकते हैं या हमें कितनी दूर जाना चाहिए। यदि हमें भारतीय परम्परा की किसी बात पर वाकई में गौरवान्वित महसूस करना चाहिए और उसे संजोकर रखना चाहिए तो वह देश भर के लोगों में व्याप्त जीवन की विविध शैलियों के प्रति उसकी सहिष्णुता है। सामाजिक विज्ञानों के माध्यम से मूल्य–आधारित शिक्षा–को बढ़ावा देने के हमारे अतिरेक भरे जोश के द्वारा इस भावना का अवमूल्यन नहीं होना चाहिए।

जब हम पूरे भारतीय समाज की बात करते हैं तो सामाजिक प्रथाओं और सामाजिक मूल्यों की विविधता के मुद्दे पर जोर दिया जाना जरूरी है। भारत एक विराट समाज है जहाँ भाषाओं, धर्मों, जनजातियों, जातियों, सम्प्रदायों, संघों और दलों की बहुतायत है। इस विराट और जटिल समाज के किसी न किसी वर्ग की भावनाओं को ठेस पहुँचाए बगैर, एक ही प्रकार के मूल्यों को बढ़ावा देना या अच्छे समाज के बारे में केवल एक ही अवधारणा की वकालत करना, ऐसा कठिन काम है जिसे शायद ही कोई प्रभावशाली व व्यवहारकुशल ढंग से निभा पाए।

अन्त में मैं उसी अवलोकन पर वापस आता हूँ जिससे मैंने शुरुआत की थी; अच्छा नागरिक बनाने की शिक्षा में सामाजिक विज्ञान के शिक्षण का योगदान। अच्छे नागरिक तैयार करने हेतु स्कूली छात्रों को शिक्षित करने के लिए सबसे पहले तो यह जरूरी है कि उन्हें सामाजिक व प्राकृतिक दुनिया के बारे में स्पष्टता से, व्यवस्थित ढंग से और वस्तुनिष्ठ तरीके से सोचने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। इसके आगे, सामाजिक विज्ञान में, यह जरूरी है कि उन्हें विभिन्न तरह की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के बारे में इस ढंग से थोड़ी जानकारी और समझ दी जाए कि, उत्साही शिक्षकों और पाठ्यपुस्तकीय लेखकों की पसन्दों और पूर्वाग्रहों के सामने, तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण गौण न हो जाएँ।

अन्त में, यदि हम मानते हैं कि विविधता हमारी सबसे बड़ी धरोहर है, तो हमें अपने विद्यार्थियों को इस विविधता में गहरी रुचि लेने और उसकी कीमत समझने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यहाँ, नागरिकता की शिक्षा में हमारे छात्रों को अपना जीवन जीने के तरीकों की जाँच–परख करने का रुख विकसित करने और जीवन जीने के दूसरे तरीकों के प्रति सहिष्णु रवैया अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना ही सामाजिक विज्ञानों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान होगा।

आन्द्रे बैटील *दिल्ली विश्वविद्यालय में अवकाशप्राप्त मानद प्राध्यापक होने के साथ ही राष्ट्रीय शोध प्राध्यापक भी हैं। उन्होंने कई विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिए हैं और उनकी किताबें व शोधपत्र भारत में और बाहर भी प्रकाशित हुए हैं। वे ब्रिटिश अकादमी के कॉरेस्पॉडिंग फैलो हैं और रॉयल ऐन्थ्रोपोलॉजिकल इंस्टीट्यूट के ऑनरेरी फैलो हैं। 2005 में उन्हें भारत के राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण से सम्मानित किया गया।*

प्रो. बैटील कई संस्थाओं में अतिथि अकादमिक पदों पर भी रहे हैं। वे मैनचैस्टर विश्वविद्यालय में साइमन फैलो, केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में कॉमनवैल्थ विज़िटिंग प्रोफेसर, लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में विज़िटिंग प्रोफेसर, बर्कले स्थित कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में डिस्टिंग्विश्ड विज़िटंग लैक्चरर, बर्लिन स्थित इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी में फैलो और ऐडिनबर्ग स्थित इंस्टीट्यूट फॉर एडवांस्ड स्टडी इन द ह्यूमैनिटीज़ में विज़िटिंग फैलो रहे हैं। उनसे इस andrebeteille@yahoo.co.in *ईमेल पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*